शोध मंथन, Impact Factor 6.726 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255 (e): 2454-339X
Vol. X, No.II, pp (783-789) April - June 2019

लोक संस्कृति

डॉ0 आशा
निर्देशेक
एसो0 प्रोफे0
इतिहास विभाग
कुमारी मायावती गवर्नमेन्ट गर्ल्स पी0जी0 कॉलिज, बादलपुर, गौतमबुद्धनगर

दीपा वर्मा
शोधार्थी
एम0फिल0
यू0जी0सी0 नेट जे0 आर0 एस0
कुमारी मायावती गवर्नमेन्ट गर्ल्स पी0जी0 कॉलिज, बादलपुर, गौतमबुद्धनगर
Email:deepaverma2606@gmail.com

सारांश

संस्कृति की आवधारणा को किसी एक परिभाषा से विवेचित नही किया जा सकता। संस्कृति का सामान्य अर्थ सीखे हुए व्यवहारों की समग्रता से लगाया जाता है। संस्कृति को विभिन्न विचारकों/साहित्यकारों ने अनेको पकार से परिभाषित किया है। संस्कृति का सतत स्वरूप व्यक्ति तथा समाज दोनों से रहा है। क्रोबर ने संस्कृति की व्याख्या पराजैविक अवधारणा के आधार पर की है उनका कहना है कि ''पराजैविकता वह है 'जो जै व या शरीर –रचना का अतिक्रमण करती है, उससे आगे बढ़ जाती है, ''संस्कृति सदैव एक अन्य ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, उपयोग किया जा सके, जिसमें विश्वास हो, और जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो। मैकाइवर ने लिखा है कि, ''हमारे रहने, विचार करने, प्रतिदिन के कार्यो, कला, साहित्य, मनोरंजन और आनन्द में संस्कषति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है''

संस्कृति कोई देवी शक्ति न होकर मनुष्य की ही सृष्टि है और इसका निरन्तर अस्तित्व मनुष्यों द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। वह केवल भिन्न–भिन्न व्यवहारों का समूह मात्र ही नही है, अपितु व्यवहारों के पारस्परिक सम्बन्धों और संगठन द्वारा बनी हुई नवीन व्यवस्था हैं। संस्कृति सतत चलने वाली मानविक कृत्यों व्यवहारों रहन–सहन आदि का स्वरूप ही है जो निरन्तर क्रियाशील होती रहती है।

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में विभिन्न समाजिक संस्थाओं का उदय, संगठन और उत्थान सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ हुआ। इनका सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों से रहा है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनकी समस्याओं का हल करने लिए उनकी स्पथापना हुई थी। इनका संगठन स्वभाविक रूप में व्यवस्थित ढंग से न होकर, योजनाबद्ध किया गया था। सामान्य आदर्श और उद्देश्य होने के फलस्वरूप वे सस्थाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित रही हैं इनका प्रयोजन उच्च आदर्शो की प्राप्ति था, जिससे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली।

संस्कृति की आवधारणा को किसी एक परिभाषा से विवेचित नही किया जा सकता। संस्कृति का सामान्य अर्थ सीखे हुए व्यवहारों की समग्रता से लगाया जाता है। क्रोबर ने संस्कृति की व्याख्या पराजैविक अवधारणा के आधार पर की है उनका कहना है कि ''पराजैविकता वह है 'जो जै व या शरीर –रचना का अतिक्रमण करती है, उससे आगे बढ़ जाती है, ''संस्कृति सदैव एक अन्य ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, उपयोग किया जा सके, जिसमें विश्वास हो, और जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो। अपने अस्तित्व के लिए संपूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर होती है।''[1]

संस्कृति की प्रथम वैज्ञानिक व्याख्या एडवर्ड टायलर ने प्रस्तुत की। टायलर ने संस्कृति एंव सभ्यता में कोई अन्तर नही किया। उनके अनुसार, ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आधार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य आदतों एवं क्षमताओं का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।''[2] प्रसिद्ध प्रकार्यवादी मैलिनोवस्की के अनुसार, ''संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उददेश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।''[3] मैलिनोवस्की इस अर्थ में प्रकार्यवादी माने जाते हैं, जब उन्होंने पहली बार संस्कृति को उसके संपूर्ण में विवेचित करते हुए यह बताया कि संस्कृति के विभिन्न अंग पृथक होते हुए भी संपूर्ण को बनाते हैं इर्सकोविट्स के अनुसार ''संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।'[4]

मैकाइवर ने लिखा है कि, ''हमारे रहने, विचार करने, प्रतिदिन के कार्यो, कला, साहित्य, मनोरंजन और आनन्द में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है'' लुण्ड़बर्ग एंव अन्य ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि'' संस्कृति को उस व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें हम सामाजिक रूप से प्राप्त और आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित किए लाने वाले प्रतीकात्मक और भौति तत्वों को सम्मिलित करते हैं।

टॉलकाट पारसन्स के अनुसार ''संस्कृति वह पर्यावरण है, जो मनव–क्रियाओं का निर्णाण करने में आधारभूत है।''[5]

रॉबर्ट पीरस्टीर्ड़ कहते है कि, ''संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है, जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित है जिन पर हम विचार करते है, कार्य करते है और समाज के सदस्य होने के नाते उन्हे अपने पास रखते हैं।''[6]

इस प्रकार संस्कृति समस्त भौतिक एवं अभौतिक तथ्यों की वह समग्रता है, जिससे व्यक्ति समाज में समाजिक कार्य करता है। संस्कृति कोई देवी शक्ति न होकर मनुष्य की ही सृष्टि है और इसका निरन्तर अस्तित्व मनुष्यों द्वारा अतीत की विरासत के प्रतीकात्मक संचार पर निर्भर है। वह केवल भिन्न–भिन्न व्यवहारों का समूह मात्र ही नही है, अपितु व्यवहारों के पारस्परिक सम्बन्धों और संगठन द्वारा बनी हुई नवीन व्यवस्था हैं। संस्कृति दिन–प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है। नए व्यवहार, नए विचार और नए अधिकारों के आने से इसमें अभिवृद्धि और संमृद्धि होती रहती है, इसलिए संस्कृति कभी भी स्थिर नहीं रहती। संस्कृति में व्यवस्था रहती है, इसलिए संस्कृति के एक तत्व के बदलने से दूसरे तत्वों में भी परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है।

भारतीय संस्कृति की प्रथम महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सहिष्णुता एवं महानता है। अनेक जातियों, प्रजातियों एवं धर्म के लोगो ने भारत में प्रवेश किया और भारत न बिना किसी भेदभाव के उन सभी के साथ सहिष्णुता एवं प्रेम–भाव प्रदर्शित किया। साथ–ही–साथ भारत ने किसी भी व्यक्ति या समूह पर अपनी संस्कृति थोपने का प्रयास नही किया, बल्कि उन्हें अपने मौलिक रूप में ही रहने दिया यही कारण है कि भारत में आज भी विभिन्न जातियों, विभिन्न प्रजातियों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के लोग स्वतंत्रता से रह रहे है।

भारतीय संस्कृति की महानता के कारण ही विभिन्न संस्कृतियों का यहाँ समन्वय एवं सम्मिश्रण सम्भव हो पाया है। भारतीय संस्कृति के महासागर ने विभिन्न धर्मो, प्रणालियों एवं स्मप्रदायों को अपने में समाहित कर लिया एवं अपनी संस्कृति को महान बनाया। विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय संस्कृति में एकता की स्थापना की गई। शक, हूण, कुषाण, यवन, आदि लोग भारतीय संस्कृति के अंग हो गय। मुस्लिम, पारसी, ईसाई, आदि भी भारतीय जन–जीवन में घुल–मिल गए। भारतीय संस्कृति भौतिक की अपेक्षा अभौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देती है। आध्यात्म को भारत ने प्रारम्भ से ही अत्यंत महत्व प्रदान किया। हमारें यहाँ भौतिक सुख–भोग आनन्द को नवीन जीवन का लक्ष्य स्वीकार नही किया गया, वरन् आत्मा, कर्म एवं पुनर्जन्म जैसी अवधारणाओं के कारण अध्यात्मवाद को बल प्रदान किया गया। इस प्रकार भौतिक सुख, भौग–लिप्सा की जगह धर्म एवं अध्यात्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है।

परम्परागत भारतीय जीवन–प्रणाली को सुव्यवस्थित करने में 'पुररूषार्थ' का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करने और उसके प्रमुख कर्तव्यों को कुछ विशेष वर्गो में विभाजित किया जा सकें, इस कारण व्यक्ति के जीवन में चार महत्वपूर्ण लक्ष्यों को पुरूषार्थ में स्पष्ट किया गया है। ये पुरूषार्थ हैं–धर्म, अर्थ, काम मोक्ष।

भारतीय जीवन को 'कर्म एंव पुनर्जन्म' ने सम्भवत जितना प्रभावित किया शायद किसी अन्य अवधारणा ने नहीं। यहाँ व्यक्तियों को संसार से विरक्त होने का उपदेश नही दिया गया, बल्कि संसार में रहते हुए फल की इच्छा किये बिना कर्म करते रहने या अपने दायित्वों को निभाते रहने पर जोर दिया गया है। गीता में लिखा है, ''मनुष्य को तो केवल कर्म करने का अधिकार है, फल की इचछा व्यर्थ है।''[7]

पी0एन0 प्रभु ने अनेक पौराणिक उदाहरणों द्वारा उसे इसे भाग्य को जोड़ने का प्रयास किया गया है। आर्थर कीथ ने भी कर्म के सिद्धान्त को पूर्णतया 'भाग्यवादी सिद्धान्त कहकर इसे भाग्य को निर्धारक कारण माना। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है, '' कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को अपने अभ्युदय अथवा विकास को छूट देना है।''

व्यक्ति के कर्म के साथ पुनर्जन्म की धारण जुड़ी है। पुनर्जन्म का वास्तविक कारण पिछले जन्म में किए, गए उसके कर्म ही है। सत्कर्मो से व्यक्ति को अगामी जीवन में श्रेष्ठ और दुष्कर्मो से निकृष्ट जन्म प्राप्त होता हैं।

हिन्दू जीवन पद्धति में व्यक्ति को प्रमुक्षतः पांच ऋणों से युक्त माना गया है–देव–ऋण, ऋषि–ऋण, पितृ–ऋण, अतिथि–ऋण एवं भूत–ऋण। व्यक्ति आज जो कुछ भी है, जिस

अवस्था में है उसके लिए वह दूसरों का ऋणी है, यह देवताओं, ऋषियों, माता–पिता, अतिथियों तथा पशु–पक्षियों तक का .ऋणि है, अतः इनके प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करके वह इन ऋणों से मुक्त हो सकता है। इसके लिए पांच महायज्ञों की व्यवस्था की गई है।[8]

इन ऋणों के द्वारा भारतीय जीवनचक्र व्यक्तियों को उनके उत्तर दायित्व से बाँधे रखता है और वे स्वच्छन्द तरीके से अपने बुजुर्गो का अपमान नहीं कर सकते।

संस्कार वस्तुत भारतीय जीवन की एक सामाजिक–धार्मिक अवधारणा है जो व्यक्तियों के शुद्धिकरण से जुड़ी है। डॉ एस0 पी0 सिंह नागेन्द्र ने लिखा है, ''संस्कारों की उतपत्ति के मूल में भारतीय प्रवृत्तियों का हाथ है। यह आख्यानों के निर्माण की प्रवृतित का ही दूसरा रूप है।

भारतीय सामाजिक अवस्था में व्यक्ति को सामाजिक–धार्मिक व्यक्ति बनाने के लिए व्यक्तितव का संपूर्ण विकास करने तथा उसे समाजापयोगी बनाने के लिए व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक परिष्कार तथा शुद्धिकरण अनिवार्य माना गया या शुद्धिकरण की पद्धति को ही संसकार माना गया है, ड़ॉ0 राजबली पाण्ड़े ने लिखा है कि, ''संस्कार का अर्थ 'धार्मिक–विधि विधान' अथवा कृत्य का आन्तरिक एंव आत्मिक सौन्दर्य का बाह्म तथा दृश्य का प्रतीक माना जाता है।'' जैमिनी पूर्व मीमासा में कहा गया है, ''संस्कार वह है जिसके करने से कोई पदार्थ उपयोगी बन जाता है।''[9]

भारतीय समाज एवं संस्कृति में व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को प्रकार्यात्मक रूप से उपयोगी बनाने और उसे स्थापित प्रदान करने के दृष्टिकोण से 'वर्ण–व्यवस्था अत्यंन्त महत्वपूर्ण है। भारत में वह सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में मानी जाती है, वर्ण और जाति को बिलकुल दो पृथक धाराओं की तरह ही समझना एवं विवेचना किया जाना चाहियें।

भारतीय समाज को चार वर्णो–ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य एवं शुद्र में विभाजित किया गया। प्रत्येक वर्ण के दायित्व (भूमिका), अधिकार, कार्य एवं व्यवसाय एक–दूसरे के भिन्न–भिन्न निर्धारित किए। वेदों में ऋग्वेद के पुरूष–सुक्त द्वारा वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इनके अनुसार ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षेत्रीय, उदर से एवं जंघा से वैश्य और पैरों से शुद्र वर्ण की उत्पत्ति हंई। इन्ही आधार पर इनके कार्यो का बँटवारा भी किया गया। ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन–अध्यापन, क्षत्रियों का रक्षा करना, वैश्यों का व्यापार और और शूद्रों का उपर्युक्त तीनो वर्णो की सेवा करना निर्धारित किया गया था।

जाति–व्यवस्था भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक विशिष्ट विशेषता है भारत के प्रत्येक भाषायी क्षेत्र में आज लगभग तीन हजार जातियाँ एवं उपजातियाँ है। व्यावहारिक रूप में हमारी सामाजिक संरचना का निर्माण उन हजारों जातियों और उपजातियों सें हुआ है जो जन्म के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति का निर्धारण करती हैं। ब्लन्ट लिखा है, ''जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है।, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता अनुवांशिक होती हैं। जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाती है। इसके सदस्य या तो एक सामान्य परपरागत व्यवसाय करते हैं। अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उतपत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप

समुदाय के रूप में मान्य होते हैं।''[10]

अतः जाति–व्यवस्था एक बन्द–वर्ग है। वर्तमान में जाति–प्रथा के स्परूप एवं कार्यो में विभिन्न कारणों। से अनेक परिवर्तन आए है फिर भी वही भारतीय सामाजिक स्तरीकरण की अपनी विशिष्ट व्यवस्था है।

भारतीय समाज में आश्रम–व्यवस्था जीवन के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति के भिन्न–भिन्न कर्तव्यों को निर्धारित करके उसके व्यक्तित्व को सुंसगठित बनाने का प्रयत्न करती है। पी0एन0 प्रभु ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आश्रम शब्द से दो अवस्थाओं की ओर संकेत मिलता है–(1) एक स्थान जहां परिश्रम किया जाए तथा (2) इस प्रकार के परिश्रम के लिए की जाने वाली क्रिया।

भारतीय समाज में आश्रम–व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति की आयु 100 वर्ष मानकर उसे 25–25 वर्षो के चार भागों में विभक्त किया गया है, ये चार आश्रम है–ब्रह्मचर्य आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, ग्रहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं संन्यास। इन्ही आश्रमों के माध्यम से व्यक्ति चार पुरूषार्थो–धर्मअर्थ काम एवं मोक्ष को प्राप्त करता है। वेदव्यास ने महाभारत में लिखा है, ''जीवन के चार आश्रम व्यक्तितव के विकास की चार सीढ़ियाँ है, जिन पर क्रम से चढ़ते हुये व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति करता है।'' इस प्रकार हम देखते है कि आश्रम–व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन को सुसंगठित कर उसमें भोग और त्याग दोनों की व्यवस्था की गई थी।

भारतीय परिवार की एक और महत्वपूर्ण विशेषता संयुक्त परिवार है के0एम0 पन्नीकर के अनुसार, यहाँ हिन्दू समाज की ईकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त परिवार है।''[11] श्रीमति इरावती कर्वे ने लिखा है, '' हम भारत में किसी भी सांस्कृतिक तथ्य को समझना चाहते हैं तो बातों का ज्ञान आवश्यक है। ये है–भाषायी क्षेत्र की संरचना, जाति–संस्था और पारिवारिक संगठन।'' डॉ0 एस0सी0 दुबे ने संयुक्त परिवार का स्पष्ट करते हुए लिखा है, यदि कई मूल–परिवार एक साथ रहते हों, ओर उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हो, और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करतें हो, सामान्य पूजा में भाग लेते हो तो उन्हे उनके सम्मिलित रूप में सयुंक्त परिवार कहा जा सकता है।''[12]

उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के अर्न्तगत अनेक स्रोतो से लियेक गये तत्वों को एक रूप में संगठित किया गया है। एकीकरण की प्रक्रिया इतनी पूर्ण थी यही इसी से स्पष्ट है हकि प्रारंभिक संश्लेषण के परिणाम स्वरूप संस्कृति का आधार बना और उसकी जो रूप रेखा दृष्टिगत हुई उसमें आज तक कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि निरन्तर चलने वाली उद्विकासीय प्रक्रिया के कारण उसमें थोड़े–बहुत संशोधन अवश्य हुए, है, लेकिन वे संशोधन भी उन्ही दिशाओं में हुए जो सम्भवत पहले से ही निर्धारित होते है।

लोक–संस्कृति से तात्पर्य जनसाधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती है, लोक में विकसित होती है और जिसकी उत्सभूमि भी जनता ही होती है। लोक–संस्कृति अर्थात लोक से जुड़ी, लोक में रची–बीस संस्कृति। लोक–संस्कृति ही शिष्ट संस्कृति का स्रोत है। प्रो0 बलदेव उपाघ्याय ने कहा है–

''लोक–संस्कृति शिष्ट–संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रियाकलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनो संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद, ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहिताएं दो विभिन्न संस्कशतियों के स्वरूप की परिचायिकताएं है। अथर्ववेद लोक–संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट–संस्कृति का। अथर्ववेद के विचारों का धरातल, सामान्य जनजीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जनजीवन हैं।''[13]

सोफिया बर्न ने कहा है– ''लोक–संस्कृति वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। वह चाहे दर्शन धर्म विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो अथवा सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में विशेषतः इतिहास काव्य और साहित्य के अपेक्षाकश्त बौद्धिक प्रदेश में सम्पन्न हुई हो।''[14]

लोक–संस्कृति ही प्रतिबिम्ब्ति होती है। लोक–साहित्य में। 'लोक–संस्कृति यदि वटवृक्ष है तो लोक–साहित्य उसकी शाखा की भांति है लोक संस्कृति का फलक वटवृक्ष विस्तृत है। उसमें जनजीवन प्रतिबिम्बित होता है इसके अर्न्तगत जनजीवन से संबंधित आचार–विचार, धार्मिक अनुष्ठान, आस्था, विश्वास, परम्पराएं, लोक–कथाएं आदि अनेक रूप समाहित होते है। लोकसाहित्य जनता के गीतों कथाओं, गाथाओं, नृत्यों, लोक नाट्य, लोकवार्ताओं लोकसुभाषित में आकर मिल जाता है। लोक साहित्य की प्रेरणा का स्रोत तो लोक–संस्कृति ही है। लोक–संस्कृति का क्षेत्र व्यापक है लोक–साहित्य को कुछ सीमाओं में बाधां जा सकता है।[15]

सन्दर्भ ग्रन्थ

प्राथमिक स्त्रोत–

1. उ0प्र0 डिस्टिक्ट गजेटियर, सहारनपुर, 1915
2. ई0वी0 जोशी, उ0प्र0 डिस्टिक्ट गजेटियर, बुलन्दशहर 1924
3. जनगणना 2011
4. दैनिक जागरण समाचार पत्र 7 जून, 2011
5. हिन्दुस्तान समाचार पत्र 2 दिसम्बर, 2012
6. जबर सिंह पुत्र श्री छोटन सिंह का सा़क्षात्कार
7. धनबीरी देवी पत्नी धर्मपाल सिंह का साक्षात्कार

द्वितीय स्त्रोत–

1. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल : *भारत की मौलिक एकता,* भारती भंडार, प्रयाग, 1954, पृष्ठ सं0 **122**।
2. डॉ0 धर्मानन्द कौशाम्बी : *भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति,* राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1965, पृष्ठ सं0 **119।**
3. टी0एस0 इलियट : *नोट्स टुवडर्स डेफिनेशन ऑफ कल्चर,* फेवर एण्ड फेवर, 1948, पृष्ठ सं0 **111**।

4. हक्सले : *विकास की प्रक्रिया*, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1968, पृष्ठ सं0 **133।**
5. सत्यकेतू विद्यालंकार : *मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति,* सरस्वती सदन मसूरी 1976, पृष्ठ सं0 **144**।
6. ड़ॉ विध्नेश त्यागी, कपिल कुमार : *मेरठ के पांच हजार वर्ष,* मेरठ पब्लिकेशन , मेरठ 2014, पृष्ठ सं0 **176**।
7. ड़ॉ के0के0 शर्मा : *मेरठ मण्ड़ल के पर्यटक स्थल*, दि0 मेरठ यूनिवर्सिटी हिस्ट्री एल्यूमिनी, मेरठ, 2015, पृष्ठ सं0 **163**।
8. बी0एन0 झा : **प्राचीन भारत एक रूप रेखा,** दिल्ली, 1987, पृष्ठ सं0 **136**।
9. आर0 विलयनस : *इनसाईकलोपीडिया ब्रिटेनिका* पृष्ठ सं0 **162**।
10. महावीर अग्रवाल : *लोक संस्कृति अध्ययन एवं परिपेक्ष्य,* श्री प्रकाशन दुर्ग 1996, पृष्ठ सं0 **192**,
11. डॉ कृष्ण देव उपाध्याय : *लोक सहित्य की भूमिका,* भावना प्रकाशन दिल्ली, पृष्ठ सं0 **117**।
12–सुरेश चन्द : त्यागी : *लोक साहित्य* मेरठ विश्वविद्यलय हिन्दी परिषद, पश्ष्ठ सं0 113,
13. ड़ॉ वासुदेव शरण अग्रवाल : *लोक का प्रत्यक्ष दर्शन,* (निम्बन्ध) सम्मेलन पत्रिका–लोक संस्कृति विशेषांक पृ0–**65**
14. महावीर अग्रवाल : *लोक संस्कृति का भविष्य,* श्री प्रकाशन, दुर्ग, 1996, पृष्ठ सं0 **85**।
15. रविन्द्र कुमार : *भारतीय संस्कृति के पांच हजार वर्ष* ड़ायनामिक पब्लिकेशन लि0 मेरठ, 2003 पृष्ठ सं0 **98**।
16–डॉ भारतेश कुमार मिश्र, डॉ सच्चिदानन्द त्रिपाठी : *भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास*, शिवांग प्रकाशन नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ सं0 *114*।